REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.2331(UIF)
VOLUME - 7 | ISSUE - 6 | MARCH - 2018

भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश शासन का आर्थिक प्रभाव : एक समीक्षात्मक अवलोकन

प्रेम शंकर राय
एम० ए० (इतिहास), बी० एड०
आदर्श नगर, फुलवारीशरीफ, पटना.

सार

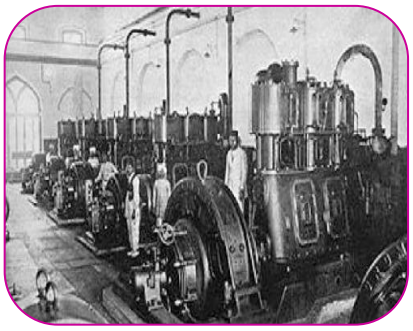

अंग्रेजों ने जो आर्थिक नीतियां अपनाई उनसे भारत की अर्थव्यवस्था का रूपांतरण एक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में हो गया, जिसके स्वरूप और ढांचे का निर्धारण ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की जरूरतों के अनुसार हुआ। इस दृष्टि से ब्रिटिश जिय पहले की सभी विदेशी जीतों से भिन्न थी। पहले के सभी विजेताओं ने भारतीय राजनीतिक शक्तियों को उखाड़ फेंका मगर उन्होंने देश के आर्थिक ढाँचे में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं किए। वे धीरे–धीरे भारतीय राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन का भाग बन गए। किसान, दस्तकार, और व्यापारी अपनी जिंदगी पहले की तरह ही जीते रहे। स्वावलंबी ग्राम अर्थव्यवस्था की बुनियादी आर्थिक बनावट को सदा बनाए रखा गया। शासकों के बदलने का मतलब था उन कर्मचारियों में परिवर्तन जो किसान के अधिशेष को वसूल करते थे। मगर ब्रिटिश विजेता बिल्कुल भिन्न थे। उन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था के परंपरागत ढांचे को पूरी तरह छिन्न–भिन्न कर दिया। इसके अलावा, वे कभी भी भारतीय जीवन का अभिन्न अंग नहीं बन सके। वे भारत में हमेशा विदेशी बने रहे, भारतीय संसाधनों का उपयोग करते रहे और भारतीय समृद्धि को नजराने के रूप में ले जाते रहे।

शब्द संकेतः– आथिक, शासन, राजनीतिक, समृद्धि .

प्रस्तावना

शहरी हस्त शिल्पों का एकाएक और बहुत जल्द पतन हो गया। इन शिल्पों के कारण भारत का नाम समूची सभ्य दुनिया में शताब्दियों से लिया जाता रहा था। इस पतन का मुख्य कारण थाः इंग्लैंड से आयात की जाने वाली मशीनों द्वारा बनाई गई सस्ती वस्तुओं के साथ प्रतिद्वंद्विता। साल 1813 में, ब्रिटिश संसद ने भारत में व्यापार पर ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार को समाप्त कर दिया और अन्य ब्रिटिश कंपनियों को व्यापार करने और अन्य ब्रिटिश कंपनियों को व्यापार करने और कार्यालय खोलने की अनुमती दी। ब्रिटेन के सदन में 1813 में थामस मूनरो से पूछा, जिन्हें 1820 में मद्रास का गवर्नर बनाया गया था, कि औद्योगिक क्रांति के बावजूद ब्रिटेन के बने कपड़े भारत में क्यों नहीं बिकते, तो उन्होंने जबाव दिया कि भारतीय कपड़े कहीं अधिक गुणवत्ता वाले है।

लेकिन, फिर ब्रिटेन में बने कपड़ों को लोकप्रिय बनाने के लिए स्थानीय कपड़ा उद्योग को नष्ट कर दिया गया और इस तरह ब्रिटेन का निर्यात जो 1815 में 25 लाख पाऊंड था वह 1822 से बढ़कर 48 लाख पाउंड हो गया।

ढाका, जो कपड़ा निर्माण का प्रमुख केंद्र था, उसकी जनसंख्या डेढ़ लाख से घटकर 20 हजार हो गई। इस प्रकार भारत औद्योगिक देश से कृषि देश बन गया। गवर्नर जनरल विलियम बेंटिक ने अपनी 1834 की रिपोर्ट में लिखा कि अर्थशास्त्र के इतिहास में ऐसी विकट परिस्थिति का कोई उदाहरण नहीं मिल सकता। भारतीय बुनकरों की हड्डियों से भारत की धरती सफेद हो गई है। आदिम तरीकों से बनी भारतीय वस्तुएं भाप से चलने वाली शक्तिशाली मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर बनाई गई वस्तुओं की प्रतिद्वंद्विता में नहीं टिक सकीं।

भारतीय उद्योगों, विशेषकर ग्रामीण दस्तकार उद्योगों की बर्बादी, रेलवे के बनते ही काफी तेजी से हुई। रेलवे द्वारा बिटिश विनिर्मित वस्तुओं के देश के सुदूर गाँवों में पहुँचने और परंपरागत उद्योगों की जड़ें खोदने में सहायता मिली। जैसा कि अमरीकी लेखक डी. एच. बुकानन ने लिखा हैः 'अलग–अलग रहने वाले स्वावलंबी गाँव के कवच को इस्पात की रेल ने बेध दिया तथा उसकी प्राण शक्ति को क्षीण कर दिया।'

सूत कातने तथा सूती कपड़ा बुनने के उद्योगों को सबसे अधिक धक्का लगा। रेशमी और ऊनी वस्त्र उद्योगों की हालत भी कोई अच्छी नहीं रही। लोहा, मिट्टी के बर्तन, शीशा, कागज, धातु, बंदूकें, जहाजरानी, तेलघानी, चमड़ा शोधन और रंगाइ उद्योगों की हालत भी बुरी हो गई।

कृषि पर जनसंख्या के बढ़ते हुए दबाव

कृषि पर जनसंख्या के बढ़ते हुए दबाव, अत्यधिक भू–राजस्व निर्धारण, जमींदारी, प्रथा के पनपने, बढ़ती ऋणग्रस्तता और किसानों की बढ़ती दरिद्रता के फलस्वरूप भारतीय कृषि गतिहीन होने लगी आर यहां तक कि उसका अपकर्ष भी होने लगा। परिणामस्वरूप प्रति एकड़ पैदावार बहुत ही कम होने लगी। 1901 तथा 1939 के बीच कुल कृषि उत्पादन 14 प्रतिशत कम हो गया।

कृषि पर जनसंख्या के बढ़ते दबाव तथा बिचौलियों की बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण जमीन न सिर्फ छोटे–छाटे टुकड़ों मे बंट गई बल्कि उसका अपखंडन भी हो गया। जमीन इतने छोटे–छोटे टुकड़ों में बंट गई कि उनमें स अधिकांश अपने जोतने वालों का भरण–पोषण भी नहीं कर सकते थे। बहुसंख्यक किसानों की अति दरिद्रता के कारण उनके पास इतने संसाधन नहीं होते थ जिनसे वे अच्छे मवेशी, बीजों, खाद और उत्पादन की उन्नत तकनीकों का इस्तेमाल कर कृषि में सुधार लाते। सरकार और जमींदार दोनों द्वारा चूसे जाने वाले किसान को कृषि में सुधार लाने के लिए कोई प्रेरणा नहीं होती थी। आखिरकार जिस जमीन पर वह खेती करता था वह विरले ही उसकी अपनी संपत्ति होती थी और कृषि में सुधारों के कारण जो भी फायदा होता उसका अधिकांश दुरस्थ जमींदारों और महाजनों का गिरोह ले लेता। जमीन के उपविभाजन तथा अपखंडन ने भी सुधारों को मुश्किल बना दिया था।

इग्लैंड और अन्य यूरोपीय देशों में धनी जमींदारों ने बहुधा जमीन में पूंजी लगाई जिससे उसकी उत्पादकता बढ़ सके और बढ़ी हुई आय में उनको हिस्सा मिल सके। मगर भारत में दूरस्थ जमींदारों ने, वे चाहे नए रहे हों या पुराने कोई उपयोगी कार्य नहीं किया। वे केवल लगान प्राप्तकर्त्ता ही रहे। बहुधा जमीन में उनकी कोई जड़ें नहीं होती थी और उन्होंने लगान वसूल करने के सिवाय उसमें कोई व्यक्तिगत दिलचस्पी भी नहीं ली। इसलिए, जमीन में उत्पादक निवेश करने की अपेक्षा अपने रैयतों को और भी चूसकर अपनी आय को बढ़ाना उन्होंने न सिर्फ संभव माना बल्कि श्रेयस्कर भी समझा।

ब्रिटिश शासन के अंतर्गत किसान भी धीरे–धीरे दरिद्र हो गए। यद्यपि वे अब अंदरूनी लड़ाईयों से मुक्त थे तथापि उनकी आर्थिक हालत खराब हो गई और वह लगातार गरीबी में धंसते गए।

बंगाल में ब्रिटश शासन के आरंभ में ही यथासंभव अधिकतम भू–राजस्व उगाहने की क्लाइव और वॉरेन हेस्टिंग्स की नीति के कारण इतना विध्वंस हुआ कि कॉर्नवॉलिस ने भी शिकायत भरे लहजे में कहा कि एक–तिहाई बंगाल 'एक जंगल में बदल गया है जिसमें केवल वनचर ही रहते हैं। 'बाद में भी कोई सुधार नहीं हुआ। दोना, स्थायी बंदोबस्त तथा अस्थायी बंदोबस्त वाले जमींदारी क्षेत्रों में किसानों की हालत अत्यंत दयनीय रही। उन्हें जमीदारों की दया पर छोड़ दिया गया जिन्होंने लगानों को असहनीय सीमाओं तक बढ़ा दिया तथा उन्हें अब्बाब देने और बेगार करने के लिए मजबूर किया। जमीदारों ने किसानों पर तरह–तरह के अत्याचार किए।

उच्च भू–राजस्व निर्धारण इसलिए भी विनाशकारी साबित हुआ कि उसके बदले किसानों को कोई आर्थिक प्रतिफल नहीं मिला। कृषि–सुधार पर सरकार ने बहुत कम खर्च किया। उसने अपनी लगभग सारी आय ब्रिटिश भारत के प्रशासन की आवश्यकताओं को पूरा करने, इंग्लैंड को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नजराना भेजने तथा ब्रिटिश व्यापार और उद्योग के हितों को साधने में लगा दी। यहाँ तक कि कानून और व्यवस्था बनाए रखने से किसान की अपेक्षा सौदागर तथा महाजन को फायदा पहुँचा।

अत्यधिक भू–राजस्व की रकम के नुकसानदेह परिणामों को उसको वसूल करने के कठोर तरीके ने और भी भयंकर बना दिया। भू–राजस्व निर्धारित तारीखों पर तत्परता के साथ भुगतान करना पड़ता था। भले ही पैदावार सामान्य से कम रही हो या बिल्कुल ही न हुई हो। खराब फसल वाले वषो में किसानों के लिए भू–राजस्व की अदायगी बड़ी कठिन थी, भले ही वह अच्छी फसल के सालों में भू–राजस्व आसानी से दे पाए हों।

जब भी किसानो भू–राजस्व अदा करने में असफल रहे, तब सरकार ने राजस्व की बकाया रकम वसूल करने के लिए उसकी जमीन को नीलाम कर दिया। मगर अधिकतर स्थितियों में किसान ने अपनी जमीन का कुछ हिस्सा बेचकर भू–राजस्व अदा किया। नीलामी की स्थिति में उसे अपनी जमीन से हाथ धोना पड़ा।

बहुधा राजस्व भुगतान करने में असमर्थता के कारण किसान को महाजन से ब्याज की ऊँची दरों पर कर्ज लेना पड़ता था। जमीन से सदा के लिए हाथ धोने के बदले किसान अपनी जमीन किसी महाजन या अपने पड़ोंसी धनी किसान के पास गिरवी रख कर्ज लेना बेहतर समझते थे। जब भी उनका खर्च उनकी आय से नहीं चल पाता था उन्हें महाजन के पास जाना पड़ता था। मगर एक बार कर्ज में फंसने के बाद उनके लिए उससे निकल पाना मुश्किल था। महाजन ऊँची दरों पर ब्याज लेता था और गलत हिसाब–किताब, जाली दस्तखतों और कर्जदार को कर्ज की वास्तविक रकमों से अधिक पर दस्तखत करने जैसी धूर्ततापूर्ण कारवाईयों द्वारा किसानों को तब तक कर्ज में फँसाता जाता था जब तक वह अपनी जमीन स हाथ नहीं धो बैठते।

महाजन को नई कानून प्रणाली तथा नई कानून राजस्व नीति से बहुत मदद मिली। अंग्रेजी राज के पहले महाजन ग्राम समुदाय के अधीन होता था। वह ऐसा आचरण नहीं कर सकता था जिसे गाँव के बाकी लोग बिल्कुल ही पसंद न करें। उदाहरण के लिए, वह बहुत अधिक दरो पर ब्याज नहीं ले सकता था। वस्तुतः ब्याज की दरों का निर्धारण चलन तथा जनमत द्वारा होता था। इसके अलावा, वह कर्जदार की जमीन पर कब्जा नहीं कर सकता था अधिक से अधिक वह कर्जदार की व्यक्तिगत चल संपत्ति जैसे गहनों या खेतों में खड़ी फसलों के कुछ हिस्से ले सकता था। जमीन को हस्तांतरण योग्य बनाकर ब्रिटिश भू–राजस्व व्यवस्था ने महाजन या धनी किसान को जमीन हथियाने में समर्थ बना दिया। यहाँ तक कि अंग्रेजों द्वारा अपनी कानून प्रणाली और पुलिस के फलस्वरूप स्थापित शांति और सुरक्षा के फायदे महाजन को मिले और जिसके हाथों में कानून ने अपार शक्ति दे दी थी, उसने पैसे की ताकत का इस्तेमाल मुकदमे की खर्चीली प्रक्रिया को अपने पक्ष में अपने हित को साधने के लिए कर लिया। इसके अतिरिक्त, साक्षर और चालाक महाजन ने आसानी से किसान की अज्ञानता तथा निरक्षरता का इस्तेमाल कानून की जटिल प्रक्रियाओं को तोड़–मरोड़ कर अनुकूल न्यायिक निर्णय प्राप्त करने के लिए किया। धीरे–धीरे रैयतवारी और महलवारी क्षेत्रों के किसान कर्ज में डुबते चले गए और अधिकाधिक जमीन महाजनों, सौदागरों, धनी किसानों और अन्य धनी वर्गो के हाथों में चलो गई। यही प्रक्रिया जमींदारी क्षेत्रों में भी हुई जहाँ किसान अपने काश्तकारी अधिकार खो बैठे और उन्हें जमीन से बेदखल कर दिया गया या वे महाजन के बंटाईदार बन गए।

किसानों के हाथों से जमीन के हस्तांतरण की प्रक्रिया अभाव तथा अकाल के कालों में तेज हो गई। भारतीय किसान के पास संकट के समय के लिए शायद ही कोई बचत होती थी और जब भी फसल खराब हो जाती थी तब उसे महाजन का आश्रय लेना पड़ता था। उसे महाजन का सहारा न केवल भू–राजस्व अदा करने बल्कि अपने तथा अपने परिवार के भोजन की व्यवस्था करने के लिए भी लेना पड़ता था।

उन्नीसवीं सदी के अंत तक महाजन ग्रामीण क्षेत्र का मुख्य अभिशाप तथा ग्रामीण जनता की बढ़ती हुई दरिद्रता का एक महत्वपूर्ण कारण बन गया था। 1911 में कुल ग्रामीण ऋण तीन अरब रूपए आंका गया था । 1937 तक वह 18 अरब रूपए पर पहुँच गया। पूरी प्रक्रिया एक दृश्चक्र बन गई थी। कराधान तथा बढ़ती हुई गरीबी के बोझ ने किसानों को कर्ज में फँसा दिया था। वस्तुतः किसान बहुधा यह नहीं समझ सके कि महाजन साम्राज्यवादी शोषण तंत्र में एक अवश्यंभावी दाता है और उन्होंने अपना गुस्सा उसी पर उतारा क्योंकि वही

उन्हें अपनी दरिदता का स्पष्ट कारण लगा। उदाहरण के लिए 1857 के विद्रोह के दौरान जहाँ भी किसानों ने विद्रोह किया, वहाँ उनके हमले का पहला निशाना था महाजन और उसकी बहियां। किसानों की ये कारवाईयां आम बात हो गई।

कृषि का वाणिज्यीकरण

कृषि के बढ़ते हुए वाणिज्यीकरण ने भी महाजन सह–सौदागर को किसान का शोषण करने में मदद दी। गरीब किसान को फसल तैयार होते ही जो भी कीमत मिले उस पर अपनी पैदावार बेचने के लिए मजबूर कर दिया जाता था क्योंकि उसे सरकार जमींदार तथा महाजन की मांगों को समय पर पूरा करना पड़ता था। इस कारण वह अनाज के व्यापारी की दया पर निर्भर हो जाता था। व्यापारी अपनी शर्तों पर अनाज खरीदता था। व्यापारी बाजार की कीमत से कम पर अनाज खरीद लेता था। इस प्रकार कृषि की पैदावारों के बढ़ते हुए व्यापार का अधिक लाभ व्यापारी को मिला, जो बहुधा गाँव को महाजन भी होता था।

पुराने जमींदारों की तबाही तथा नई व्यवस्था का उदय

ब्रिटिश शासन के पहले कुछ दशकों में बंगाल तथा मद्रास के पुराने जमींदार तबाह हो गए ऐसा खासकर सबसे ऊँची बोली लगाने वाले को ही राजस्व वसूली के अधिकार नीलाम करने की वॉरेन हेस्टिंग्स को नीति के कारण हुआ। आरंभ में 1793 के स्थायी बंदोबस्त का ऐसा ही प्रभाव हुआ। भू–राजस्व का भारी बोझ (सरकार कुल लगान का 10/11 ले लेती थी) और वसूली संबंधी सख्त कानून ने, जिसके तहत राजस्व की अदायगी मे विलंब होने पर जमींदारी संपत्तियां बड़ी कठोरता स नीलाम कर दी गई, शुरू के कुछ वर्षो के दौरान बड़ी ही विध्वंसकारी भूमिका अदा की। बंगाल के अनेक बड़े जमींदार बिल्कुल तबाह हो गए तथा अपने जमींदारी अधिकारों को बेचने पर मजबूर किए गए। 1815 तक बंगाल की लगभग आधी भू–संपत्ति पुराने जमींदारों के हाथो से निकलकर सौदागरों तथा अन्य धनी वर्गो के पास जा चुकी थी। पुराने जमींदार गांवों में रहते आए थे और रैयतों के प्रति कुछ नरमी दिखाने की उनकी परंपरा रही थी। सौदागर तथा पैसे वाले अन्य वर्ग आमतौर से शहरों में रहते थे और कठिन परिस्थितियों का बिना ख्याल किए वे रैयत से पाई–पाई निष्ठुरता से वसूल करते थे। वे बिल्कुल बेईमान थे और रैयतों के प्रति उनके मन में कोई सहानुभूति नहीं थी। वे किसानों से बहुत अधिक ऐंठते तथा जब भी चाहते उन्हें बेदखल कर देते थे।

उत्तर मद्रास में स्थायी बंदोबस्त आर उत्तर प्रदेश में अस्थायी जमींदारी बंदोबस्त भी स्थानीय जमींदार के लिए समान रूप से कठोर थे।

मगर जमींदारों की दशा में जल्द ही तेजी से सुधार हुआ। जमींदार भू–राजस्व समय पर अदा कर सकें, इसके लिए अधिकारियों ने रैयतें पर उनके अधिकार बढ़ा किए। फलस्वरूप रैयतों के परंपरागत अधिकार समाप्त हो गए। अब जमींदार ने लगान को अधिकतम सीमा तक बढ़ाने के लिए कमर कस ली। फलस्वरूप वे जल्द ही समृद्ध हो गए।

बंटाईदारी से निश्प्राण बनी हुई थी, उसमें शायद ही किसी आधुनिक मशीन का इस्तेमाल हो रहा था। सबसे खराब बात यह थी कि साधारण उपकरण भी सदियों पुराने थे। उदाहरण के लिए 1951 में केवल 9,30,000 लोहे के हल इस्तेमाल किए जा रहे थे जबकि काठ के हलों की संख्या 3 करोड़ 18 लाख थी। अजैव उर्वरकों का प्रयोग बिल्कुल ही नहीं होता था जबकि अधिकांश पशु खाद (उदाहरण के लिए गोबर, मल और मवेशियों की हड्डियां) बर्बाद हो जाती थी। 1922–23 में कुल फसल वाली जमीन के केवल 1.9 प्रतिशत में ही उन्नत बीज का प्रयोग होता था। 1938–39 तक यह प्रतिशत बढ़कर केवल 11 प्रतिशत पर ही पहुंच पाया था। इतना ही नहीं, कृषि शिक्षा पूर्णतया उपेक्षित थी। 1939 में पूरे भारत में केवल छह कृषि कॉलेज थे जिनमें सिर्फ 1,306 विधार्थी पढ़ते थे। बंगाल, बिहार, उड़ीसा और सिंध में एक भी कृषि कॉलेज नहीं था। स्वाध्याय के जरिए सुधार लाने में भी किसान समर्थ नहीं थे। ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा या यहां तक कि साक्षरता तक का कुछ प्रसार नहीं हुआ था।

आधुनिक उद्योगों का विकास

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की एक महत्वपूर्ण घटना मशीनों के बड़े पैमाने पर मशीन आधारित उद्योगों की स्थापना थी। भारत में मशीन युग का आरंभ तब हुआ जब उन्नींसवीं सदी के छठ दशक में सूती कपड़ा,

जूट और कोयला खान उद्योगों की स्थापना हुई। पहली कपड़ा मिल 1853 में कावसजी नाना भाई ने बंबई में शुरू की, और पहली जूट मिल 1855 में रिशरा ''बंगाल'' में स्थापित की गई। इन उद्योगों का विस्तार धीरे–धीरे मगर सतत रूप से हुआ। 1879 में भारत में 56 सूती कपड़ा मिलें थी जिनमें लगभग 43,000 लोग काम करते थे। 1882 में 20 जूट मिले थीं, जो अधिकतर बंगाल में थी और उनमें लगभग 20,000 लोग काम करते थे। 1905 तक भारत में 206 सूती मिली हो गई थीं जिनमें करीब 1,96,000 लोग काम करते थे। 1901 में 36 से अधिक जूट मिलें थी जिनमें करीब 1,15,000 लोग काम कर लगे थे। कोयला खान उद्योगों में 1906 में करीब एक लाख लोगों को रोजगार मिला हुआ था। अन्य यांत्रिक उद्योगों जो उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा बींसवीं सदी के शुरू में विकसित हुए उनमें कपास की ओटाई तथा दबाने, चावल, आटे तथा इमारती लकड़ी की मिलें, चर्म शोधनालय, ऊनी कपड़े के कारखाने, कागज और चीनी की मिलें, लोहा और इस्पात के कारखाने, नमक, अभ्रक और शोरे जैसे खनिज उद्योग थे। बींसवी सदी के चौथे दशक में सीमेंट, कागज, दियासलाई, चीनी और शीशा उद्योग विकसित हुए। मगर इन सब उद्योगों का अवरूद्ध विकास हुआ।

अधिकतर आधुनिक भारतीय उद्योगों पर ब्रिटिश पूंजी का स्वामित्व या नियंत्रण था। विदेशी पूंजीपति भारतीय उद्योग में ऊंचे मुनाफों की संभावनाओं के कारण उसकी ओर आकर्षित हुए। श्रम अत्यंत सस्ता था; कच्चे माल तुरंत और सस्ती दरों पर उपलब्ध थे; और अनेक वस्तुओं के लिए भारत और उसके पड़ोसियों ने तैयार बाजार उपलब्ध कराया। चाय, जूट और मैंगनीज जैसे अनेक भारतीय उत्पादों के लिए सारे संसार में बना–बनाया बाजार था। दूसरी ओर, अपने देश में विदेशी पूंजीपतियों को लाभप्रद निवेश के अवसर कम मिल रहे थे। उस समय, औपनिवेशिक सरकार और उसके अधिकारी सभी प्रकार की सहायता तथा रियायतें देने को तैयार थे।

विदेशी पूंजी ने अनेक उद्योगों मे भारतीय पूंजी को दबा दिया। कवल सूती कपड़ा उद्योग में आरंभ में भारतीयों का बहुत बड़ा हिस्सा था और बीसवीं सदी के चौथे दशक में चीनी उद्योग का विकास, भारतीयों ने किया। भारतीय पूंजीपतियों को आरंभ से ही ब्रिटिश मैनेजिंग एजेंसियों और ब्रिटिश बैंकों की ताकत के खिलाफ संघर्ष करना पड़ा। किसी भी उद्यम के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए भारतीय व्यावसायियों को उस क्षेत्र में प्रबल ब्रिटिश मैनेजिंग एजेंसियों के सामने झुकना पड़ता था। अनेक स्थितियों में भारतीयों की कंपनियों पर भी विदेशी स्वामित्व और नियंत्रण वाली मैनेजिंग एजेंसियों का दबदबा होता था। भारतीयों को बैंकों से ऋण मिलने में भी कठिनाई होती थी। अधिकतर बैंकों पर ब्रिटिश अर्थपतियों का प्रभाव था। अगर उनको कर्ज मिलते भी थे तो उन्हें ऊंची दरों पर ब्याज देने पड़ते थे जबकि विदेशी काफी आसान शर्तो पर कर्ज ल सकते थे। निःसंदेह, भारतीयों ने धीरे–धीरे अपने बैंक और बीमा कंपनियां विकसित करनी शुरू कर दी। 1914 में भारत की कुल बैंक जमा के 70 प्रतिशत से भी अधिक पर विदेशी बैंकों का अधिकार था; 1937 तक उनका हिस्सा घटकर 57 प्रतिशत हो गया।

भारतीय आथिक जीवन में अपना बोलबाला बनाए रखने के लिए भारत स्थित ब्रिटिश उद्यम ने मशीन और उपकरण देने वाले ब्रिटिश संभरणकर्ताओं, जहाजरानी, बीमा कंपनियों, विपणन संगठनों, सरकारी अधिकारियों तथा राजनीतिक नेताओं से भी घनिष्ठ संबंध बनाए रखे। इसके अलावा, सरकार ने भारतीय पूंजी के विपरीत विदेशी पूंजी का पक्ष लेने की नीति जानबूझ कर अपनाई।

भारत सरकार की रेलवे नीति ने भी भारतीय उद्यमों के प्रति भेदवभाव किया; रेलवे भाड़े की दरों ने देशी उत्पादनों की तुलना में विदेशों से आई वस्तुओं को प्रोत्साहन दिया। आयातित वस्तुओं की अपेक्षा भारतीय वस्तुओं का वितरण कठिन और खर्चीला था।

भारतीयों द्वारा उद्योग स्थापित करने मे एक अन्य गंभीर कठिनाई यह थी कि इन देश में भारी या पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों का लगभग पूरा अभाव था। इन उद्योगों के बिना अन्य उद्योगों का तेज और स्वतंत्र विकास नही हो सकता था। लोहा और इस्पात उत्पन्न करने या मशीन बनाने के लिए भारत के पास बड़े संयंत्र नहीं थे। इंजीनियरिंग उद्योगों के नाम पर कुछ छोटी–छोटी मरम्मत वाले वर्कशॉप थे और धातु उद्योगों के नाम पर थोड़ी सी लोहा और पीतल की फाउंड्रियां थी। भारत में इस्पात का उत्पादन सबसे पहले 1913 में हुआ। इस प्रकार भारत में इस्पात, धातुकर्म, मशीन, रसायन और तेल जैसे बुनियादी उद्योगों का अभाव था। विद्युत शक्ति के विकास में भी भारत पिछड़ा हुआ था।

मशीनों पर आधारित उद्योगों के अलावा, उन्नीसवीं सदी में नील, चाय और कॉफी जैसे बागान उद्योगों का भी विकास हुआ। उन पर पूरी तरह से यूरोपीय स्वामित्व था। नील का इस्तेमाल सूती कपड़ा उद्योग में

रंगाई के लिए होता था। नील से रंग बनाने का उद्योग भारत में अठारहवीं सदी के अंत में शुरू किया गया। वह बंगाल और बिहार में फला–फूला। किसानों पर अत्याचार करने के कारण निलहे (Indigo planters) बदनाम हो गए। उन्होंने नील की खेती करने के लिए किसानों को मजबूर किया। इस उत्पीड़न का सजीव चित्रण प्रसिद्ध बंगला लेखक दीनबंधु मित्र ने अपने नाटक ''नील दर्पण'' म 1860 में किया। एक संश्लिष्ट रंग के आविष्कार से नील उद्योग को बड़ा धक्का लगा और धीरे–धीरे ह्रास हो गया। चाय उद्योग का विकास 1850 के बाद असम, बंगाल, दक्षिण भारत तथा हिमाचल प्रदेश की पहाड़ियों में हुआ। चाय उद्योग पर विदेशी स्वामित्व होने के कारण सरकार ने लगान मुक्त जमीन तथा अन्य सुविधाएं देकर उनकी सहायता की। कालक्रम से चाय आ उपयोग सारे भारत में होने लगा। चाय निर्यात की एक महत्त्वपूर्ण वस्तु बन गई। इस दौरान कॉफी बागानों का विकास दक्षिण भारत में हुआ।

बागान तथा विदेशी स्वामित्व वाले अन्य उद्योगों से भारतीय जनता को कोई खास फायदा नहीं हुआ। उनके वेतन और मुनाफे देश से बाहर जाते थे। उन्होंने वेतन का एक बड़ा भाग उच्च वेतनभोगी विदेशियों पर लगाया। उन्होंने अपने अधिकांश उपकरण विदेशों में खरीदे। उनके अधिकतर तकनीकी कर्मचारी विदेशी थे। उनक अधिकांश उत्पादन विदेशी बाजारों में बिकते थे और ब्रिक्री से प्राप्त विदेशी मुद्रा का इस्तेमाल ब्रिटेन करता था। इन उद्योगों से भारतीयों एक ही फायदा हुआ कि अकुशल लोगों के लिए रोजगार के अवसर पैदा हुए। मगर इन उद्योगों में अधिकांश मजदूरों को बहुत कम मजदूरी मिलती थी तथा उन्हें अत्यन्त कठिन स्थितियों में लंबे समय तक काम करना पड़ता था। इसके अलावा, बागानों में भी लगभग गुलामी की स्थिति थी।

कुल मिलाकर भारत में औद्योगिक प्रगति बड़ी धीमी और दुःखदायी रही। औद्योगिक प्रगति उन्नीसवीं सदी में सूती कपड़ा और जूट उद्योगों तथा चाय बागानों तथा बीसवीं सदी के चौथे दशक में चीनी और सीमेंट तक ही सीमित रही। 1946 में भी, कारखानों में काम करने वाले 40 प्रतिशत मजदूर सूती कपड़ा और जूट उद्योगों में लगे हुए थे। उत्पादन और रोजगार दोनों दृष्टियों से भारत का आधुनिक औद्योगिक विकास अन्य देशों के लिए आर्थिक विकास या भारत की आवश्यकताओं की तुलना में नगण्य था। वस्तुतः उसने देशी हस्तशिल्पों के ह्रास को भी पूरा नहीं किया। उससे गरीबी और जमीन पर जनसंख्या के बढ़ते हुए दबाव की समस्याओं पर कोई खास असर नहीं पड़ा। भारत के औद्योगीकरण की नगण्यता इस तथ्य से स्पष्ट होती है कि 1951 में 35 करोड़ 70 लाख की कुल जनसंख्या में से केवल 23 लाख लोग आधुनिक औद्योगिक उद्यमों में लगे थे। इसके अलावा, 1858 के बाद शहरी और ग्रामीण हस्तशिल्पों का ह्रास अनवरत जारी रहा। भारतीय योजना आयोग ने हिसाब लगाया है कि प्रोसेसिंग तथा विनिर्माण में लगे लोगों की संख्या 1901 में 1 करोड़ 3 लाख थी जो बढ़कर 1951 में 88 लाख हो गई यद्यपि इस दौरान जनसंख्या में लगभग 40 प्रतिशत वृद्धि हुई। सरकार ने पुराने देशी उद्योगों के संरक्षण, पुनर्स्थापना, पुनःसंगठन तथा आधुनिक उद्योग आधुनिकीकरण के लिए कोई प्रयास नहीं किया।

इसके अलावा, आधुनिक उद्योग भी सरकारी सहायता के बिना और बहुधा ब्रिटिश नीति के विरूद्ध विकसित हुए। ब्रिटिश विनिर्माता भारतीय सूती कपड़ा उद्योग तथा अन्य उद्योगों को अपनी प्रतिद्वंद्वी समझते थे और उन्होंने सरकार पर दबाव डाला कि वह भारत में औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित न करे बल्कि उसे सक्रिय रूप से हतोत्साहित करें इस प्रकार ब्रिटिश नीति ने भारतीय उद्योगों के विकास को कृत्रिम रूप से प्रतिबंधित तथा धीमा किया।

इतना हो नहीं, भारतीय उद्योगों को अपने शैशव काल में संरक्षण की आवश्यकता थी। उनका विकास उस समय हुआ जब ब्रिटेन, फ्रांस जर्मनी और संयुक्त राज्य अमरीका ने शक्तिशाली उद्योग स्थापित कर लिये थे और इसलिए भारतीय उद्योग उनकी प्रतिस्पर्धा में नहीं टिक सकते थे। वस्तुतः बिटेन सहित सभी अन्य देशों ने विदेशी विनिर्मित वस्तुओं के आयात पर भारी आयात शुल्क लगाकर अपने शिशु उद्योगों को संरक्षण दिया था। मगर भारत स्वतंत्र देश नहीं था। उसकी नीतियों को ब्रिटेन निर्धारित करता था। नीति–निर्धारण ब्रिटिश उद्योगपतियों के हिता में किया जाता था। ब्रिटिश उद्योगपतियों ने अपने उपनिवेश पर मुक्त व्यापार की निति लाद दी थी। इसी कारण भारत सरकार ने, जिस प्रकार यूरोप और जापान की सरकारें अपने शिशु–उद्योगों को सहायता दे रही थीं उस प्रकार नव–स्थापित भारतीय उद्योगों को वित्तीय तथा अन्य सहायता देने से इंकार कर दिया। उसने तकनीकी शिक्षा के लिए पर्याप्त इतजाम नहीं किए। 1951 तक तकनीकी शिक्षा बहुत पिछड़ी रही। इससे देश का औद्योगिक पिछड़ापन और भी बढ़ गया। 1939 में देश भर में केवल 7 इंजीनियरिंग कॉलेज थे

जिनमें 2217 विद्यार्थी पढ़ते थे। अनेक भारतीय परियोजनाएं, उदाहरण के लिए, जहाजों, रेल इंजनों, मोटर गाड़ियों और हवाई जहाजों के निर्माण से संबंधित परियोजनाएं इसलिए शुरू नहीं की जा सकी क्योंकि सरकार ने कोई सहायता देने से इंकार कर दिया।

अंत्तोगत्वा बीसवीं सदी के तीसरे और चोथे दशक में, उदीयमान राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीय पूंजीपति वर्ग के दबावों के कारण भारत सरकार को मजबूर होकर भारतीय उद्योगों को तटकर संबंधी कुछ संरक्षण देना पड़ा। मगर फिर यहां भी सरकार ने भारतीय के उद्योगों के प्रति सौतेला व्यवहार किया। भारतीयों के उद्योगों जैसे सीमेंट, लोहा, इस्पात और शीशा को या तो संरक्षण ही नहीं दिया गया या दिया गया तो यह बहुत अपर्याप्त था। इसके अलावा, ब्रिटिश आयातित वस्तुओं को ''साम्राज्यीय वरीयता'' (imperial preferences) की प्रणाली के अंतर्गत भारतीयों के जोरदार विरोध के बावजूद, विशेष रियायतें दी गई।

भारतीय औद्योगिक विकास की एक खास बात यह थी कि वह क्षेत्रीय दृष्टि से अत्यंत असंतुलित था। भारतीय उद्योग देश के कुछ क्षेत्रों और शहरों में ही संकेद्रित थे। देश के अधिकतर भाग बिल्कुल अर्ध–विकसित थे। इस असमान क्षेत्रीय आर्थिक विकास के कारण न केवल आय के वितरण में असमानता आई बल्कि राष्ट्रीय एकीकरण के स्तर पर भी प्रभाव पड़ा। इससे एक एकीकृत भारत के निर्माण का कार्य अधिक कठिन हो गया।

देश के सीमित औद्योगिक विकास का भी एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज में दो नए सामाजिक वर्गो ने जन्म लिया और उनका विकास हुआ। ये वर्ग थे– औद्योगिक पूंजीपति वर्ग तथा आधुनिक मजदूर वर्ग। ये दोनों वर्ग भारतीय इतिहास में बिल्कुल नए थे क्योंकि आधुनिक खानें, उद्योग और परिवहन के साधन नए थे।

यद्यपि वे वर्ग भारतीय जनसंख्या के अत्यंत छोटे भाग थे तथापि उन्होंने नई टेक्नोलॉजी, आर्थिक संगठन की नई प्रणाली, नए सामाजिक संबंधों, नए विचारों और नए दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया। वे नई परंपराओं रीति–रिवाजों, जीवन के तौर–तीरकों से दबे हुए नहीं थे। सर्वोपरि बात यह थी कि उनका दृष्टिकोण अखिल भारतीय था। इसके अलावा देश के औद्योगिक विकास में दोनों की गहरी दिलचस्पी थी, इसलिए उनका आर्थिक और राजनीतिक महत्त्व तथा उनकी भूमिकाएं उनकी संख्या के अनुपात में काफो अधिक थी।

दरिद्रता और अकाल

भारत में ब्रिटिश शासन की एक प्रमुख बात तथा ब्रिटिश आर्थिक नीतियों का एक खास परिणाम हुआ भारतीय जनता में अत्यंत दरिद्रता का साम्राज्य । यद्यपि इतिहासकारों में इस बात को लेकर मतभेद है कि ब्रिटिश शासन के दौरान भारत म गरीबी बढ़ती जा रही थी या नहीं। तथापि इस तथ्य पर कोई मतभेद नहीं है कि पूरे ब्रिटिश शासनकाल के दौरान अधिकतर भारतीय हमेशा भुखमरी के कगार पर रहते थे। समय बीतने के साथ–साथ भारतीयों के लिए रोजगार या जीविका प्राप्त करना कठिन होता गया। ब्रिटिश आर्थिक शोषण देशी उद्योगों का ह्रास, उनकी जगह लेने में आधुनिक उद्योगों की विफलता, करों की ऊंची दरें, भारत से धन ढोकर ब्रिटेन ले जाना, और कृषि का एक पिछड़ा हुआ ढांचा तथा गरीब किसानों का जमींदारों, भू–स्वामियों, राजाओं, महाजनों, व्यापारियों और राज्य द्वारा शोषण– इन सबने भारतीय जनता को अत्यंत दरिद्र बना दिया तथा उसे प्रगति करने नहीं दी। भारत की औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था एक निम्न आर्थिक स्तर पर ठहरी रही।

जनता की दरिद्रता की पराकाष्ठा अकालों की एक श्रृंखला में हुई, जिन्होंने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत के सभी हिस्सों में अपनी विनाशकारी लीला दिखाई। इनमें से पहला अकाल पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 1860–61 में पड़ा जिसमें दो लाख आदमियों की जानें गई। 1865–66 में अकाल ने उड़ीसा, बंगाल, बिहार और मद्रास को धर दबोचा और 20 लाख लोगों की जानें ले ली। केवल उड़ीसा में 10 लाख लोग मर गए। 1868–70 के अकाल में 14 लाख से अधिक लोग पश्चिमी उत्तर प्रदेश, बंबई और पंजाब में मर गए। राजपूताना भी अकाल से प्रभावित था। वहां के अनेक राज्यों को अपनी एक–चौथाई से एक तिहाई जनसंख्या तक से हाथ धोना पड़ा।

उस समय तक का शायद सबसे भयंकर अकाल 1876–78 में मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, महाराष्ट्र, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब मे पड़ा। महाराष्ट्र में 8 लाख लोग मारे गए। मद्रास से लगभग 35 लाख लोगों की जाने गई। मैसूर को अपनी कारीब 20 प्रतिशत जनसंख्या से हाथ धोना पड़ा तथा उत्तर प्रदेश में 12 लाख से अधिक लोग मर गए। सूखे के कारण 1896–97 और फिर 1899–1900 में देशव्यापी अकाल पड़ा।

1896–97 के अकाल से साढ़े नौ करोड़ से अधिक लोग प्रभावित हुए जिनमें से करीब 45 लाख मर गए। 1899–1900 का अकाल से व्यापक तबाही हुई। राहत कार्यो द्वारा लोगों की जानें बचाने में सरकारी प्रत्यनों के बावजूद 25 लाख से अधिक व्यक्ति मर गए। इन बड़े अकालों के अलावा अनेक स्थानीय अकाल पड़े तथा अभाव की स्थितियां आई। एक ब्रिटिश लेखक विलियम डिग्बी ने हिसाब लगाया ह कि 1854 से 1901 तक कुल मिलाकर 2,88,25000 से अधिक लोग अकाल से मरे। एक और अकाल 1943 में बंगाल में पड़ा जिसमें करीब 30 लाख लोग मर गए। ये अकाल और उनमें मरने वालों की भारी संख्या इस बात का संकेत देती है कि गरीबी और भुखमरी की जड़ें भारत में कितनी गहरी हो गई थी।

भारत स्थित अनेक अंग्रेज अधिकारियों ने उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान भारत की दरिद्रता की भयंकर वास्तविकता को स्वीकार किया। उदाहरण के लिए, गवर्नर–जनरल की काउंसिल के एक सदस्य चार्ल्स इलियट ने टिप्पणी की–

मुझे यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि आधी कृषि जनसंख्या को एक साल के अंत में से दूसरे साल के अंत तक यह पता नहीं होता कि पेट भर खाना कैसा होता है।

'इंपीरियल गजेटियर' के संकलनकर्ता विलियम हंटर ने स्वीकार किया कि 'भारत के 4 करोड़ लोगों को अपर्याप्त भोजन पर जीवन बिताने की आदत हो गई है।' बीसवीं सदी में स्थिति और भी खराब हो गई। एक भारतीय को उपलब्ध भोजन की मात्रा में 1911 और 1941 के बीच 30 वर्षो के दौरान 29 प्रतिशत तक की कमी हुई।

भारत के आर्थिक पिछड़ेपन और गरीबी के अनेक अन्य संकेत है। राष्ट्रीय आय संबंधी प्रसिद्ध विशेषज्ञ, कोलिन क्लर्क ने हिसाब लगाया है कि 1925–34 के दौरान संसार में सबसे कम प्रति व्यक्ति आय भारत और चीन की थी। एक अंग्रेज की आय एक भारतीय की आय से 5 गुना थी। इसी प्रकार बीसवीं सदी के चौथे दशक के दौरान, आधुनिक चिकित्सा विज्ञानों सफाई क कारण हुई प्रगति के बावजूद एक भारतीय की औसत जीवन प्रत्याशा केवल 32 वर्ष तथा थी। अधिकतर पश्चिम यूरोपीय और उत्तरी अमरीकी देशों के औसत आयु 60 वर्ष से ऊपर थी।

निष्कर्ष

भारत का आर्थिक पिछड़ापन और उसकी निर्धनता प्राकृतिक संसाधनों की कमी के कारण नहीं थी, वह मनुष्य निर्मित थी। भारत में प्राकृतिक संसाधन भरपूर मात्रा में थे। यदि उनका ठीक प्रकार से प्रयोग किया जाता तो वे जनता में पर्याप्त समृद्धि ला सकते थे। भारत एक विरोधाभासी चित्र प्रकट करता था– एक समृद्ध देश, जिसमें निर्धन लोग रहते थे। इस स्थिति के कारण थे– विदेशी शासन और शोषण तथा एक पिछड़ी हुई कृषि और औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था, जो वस्तुतः उसके पूरे ऐतिहासिक और सामाजिक विकास का परिणाम थी।

भारत की भौगोलिक स्थिति या प्राकृतिक संसाधनों की कमी या यहां के लोगों में अंतर्निहित कोई चारित्रिक कमी अथवा क्षमता का अभाव भारत की गरीबी का कारण नहीं था। यह मुगल काल का अवशेष भी नहीं था और न ही यहां की गरीबी ब्रिटिश पूर्व अतीत का नतीजा था। मुख्य रूप यह पिछली दो सदियों के इतिहास का नतीजा था। भारत इसके पहले किसी भी रूप में पश्चिमी देशों की तुलना में पिछड़ा हुआ देश नहीं था। उस समय दुनिया के देशों के बीच रहन–सहन के स्तर में बहुत ज्यादा फर्क नहीं था। संक्षेप में, इस दौरान पश्चिमी देशों का विकास हुआ, उनमें संपन्नता आई और भारत को आधुनिक उपनिवेशवाद के अधीन होना पड़ा तथा इसका विकास अवरूद्ध कर दिया गया। जिन दिनों भारत ब्रिटिश शासन के अधीन था, आज के सभी विकसित देशों में लगभग उसी दौरान अपना विकास किया था। अधिकांश विकसित देशों का विकास 1850 के बाद हुआ। दुनिया के विभिन्न हिस्सों के जीवन स्तर में 1750 तक बहुत अधिक फर्क नहीं था। इस संबंध में ध्यान देने की दिलचस्प बात यह है कि ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति के शुरू होने की तिथियां और बंगाल पर ब्रिटेन की विजय की तिथि बहुत पास पास है।

संदर्भ सूचीः–

1. अली, अतर, द 18वीं शताब्दीः ऐन इंटरप्रीटेशन इंडियन हिस्टोरिकल रिब्यू, वोल्यूम–5, नं. 1–2, 1978.79, ICHR नई दिल्ली।

2. रघुवंशी, भी.पी.एस. इंडियन सोसाइटी इन द 18वी शताब्दी, एसोसियेट पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली।
3. सर देसाई, जी.एस. न्यू हिस्ट्री ऑफ मैराथस, वोल्यूम 2 एण्ड 3, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिसर्स, नइ दिल्ली।
4. हसन मोहीबुल। हिस्ट्री ऑफ टीपु सुल्तान, वर्ल्ड प्रेस, दिल्ली।
5. मुखर्जी, मृदुला पेसेन्टस इन इंडिया नन वॉयलेन्ट रिवोलूसन, सेज पब्लिकेशन नई दिल्ली।